

कम्युनिस्ट पार्टियों के पिछलग्गू लेखक संगठन प्रधानमंत्री बनने के लिये मोदी का प्रचार-तंत्र

- मनोज कुमार झा

‘प्रगतिशील कवियों की नई लिस्ट निकली है देखा उसमें कहीं त्रिलोचन का नाम नहीं था’

- त्रिलोचन

त्रिलोचन की ये पंक्तियां प्रगतिशील साहित्य आंदोलन पर गंभीर टिप्पणी करती हैं। त्रिलोचन नागार्जुन की तरह ही जनकवि हैं। इनका एक काव्य-संग्रह है- ‘उस जनपद का कवि हूँ’। इन्होंने लिखा है-

‘उस जनपद का कवि हूँ

जो भूखा है दूखा है

कला नहीं जानता’

और ‘चंपा काले-काले अक्षर नहीं चीन्हती।’

नागार्जुन, त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल ऐसे जनकवि हैं, जो प्रगतिशील लेखक संगठन की स्थापना (1936) के पहले से ही सक्रिय थे, पर हिंदी आलोचना के केंद्र में ये 70 के दशक के बाद आए। 70 के दशक के बाद ही, इनके काव्य-संग्रह प्रकाशित होने लगे और 90 के दशक में तो नागार्जुन के एक ही साल के दौरान कई संग्रह प्रकाशित हुए। नागार्जुन तो स्वामी सहजानंद सरस्वती के किसान आंदोलन के सक्रिय कार्यकर्ता भी रहे राहुल सांकृत्यायन के साथ, जिन्होंने किसानों के आंदोलन के दौरान पुलिस की लाठियों भी खाईं।

आखिर क्या वजह थी कि प्रगतिशील लेखक संघ ने ऐसे जनकवियों को पहचान नहीं दी? क्या वजह थी कि निराला जैसा क्रांतिकारी कवि प्रगतिशील लेखक संघ से दूर रहा निराला ने इसका संकेत दिया है। एक बार वे इलाहाबाद में प्रगतिशील लेखकों की गोष्ठी में पहुंच गए थे। पर वहां अंग्रेजी और अभिजात्य का बोलबाला देख उनका मन खटा हो गया। दूसरी तरफ, महान रोमांटिक कवि, छायावाद के प्रमुख आधार स्तंभ सुमित्रानंदन पंत प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ गए। लेकिन जल्दी ही उनका मार्क्सवाद से मोहभंग हो गया। और वे महर्षि अरविंद की शरण में जा पहुंचे। मार्क्सवाद से कई लेखकों का मोहभंग हुआ। हिंदी के महान कथाकार निर्मल वर्मा का भी जो एक जमाने में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य हुआ करते थे। प्रगतिशील लेखक संघ के नेताओं ने उनके साहित्य की विवेचना करने की जगह उन्हें गरियाना ही अपना परम धर्म मान लिया था।

प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना सज्जाद जहीर, मुल्कराज आनंद और उनके साथियों ने 1936 में लंदन में की थी। बाद में उसी वर्ष लखनऊ में इसका पहला सम्मेलन हुआ, जिसकी अध्यक्षता प्रेमचंद ने की थी।

उस मौके पर उन्होंने जो व्याख्यान दिया, वह जनसाहित्य का घोषणापत्र बन गया और ‘साहित्य का उद्देश्य’ शीर्षक से प्रकाशित है। प्रेमचंद ने कहा था, ‘साहित्य राजनीति के पीछे चलने वाली नहीं, उसे राह दिखाते हुए आगे चलने वाली’ सच्चाई है। उन्होंने साहित्य को जीवन की आलोचना माना था। पता नहीं, प्रेमचंद मार्क्सवाद से कितने प्रभावित थे, पर विश्व साहित्य में उनका स्थान गोकर्ण और लू शुन के समकक्ष में है।

अब कुछ ‘क्रांतिकारी’ साहित्यकार कह रहे हैं कि प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना प्रेमचंद ने की थी। यह सरासर गलत है। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना कम्युनिस्ट पार्टी ने करवाई थी और अपनी संकीर्ण एवं साम्प्रदायिक सोच के तहत हिंदी और उर्दू लेखकों का अलग-अलग संगठन बनाया था। कौन नहीं जानता कि कम्युनिस्टों ने देश के विभाजन का समर्थन किया था। ये अलग बात है कि मार्क्सवाद जैसे क्रांतिकारी दर्शन के कारण उस समय के लगभग सभी प्रमुख साहित्यकार प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ गए। यहां सवाल ये भी है कि मंटो जैसा यथार्थवादी लेखक इस संगठन से क्यों नहीं जुड़ा? इसका जवाब स्वयं मंटो ने दिया है।

प्रगतिशील लेखक संघ की कमान कम्युनिस्ट पार्टी के हाथ में थी, स्टालिनवादी कम्युनिस्ट पार्टी के हाथ में। बाद में ये खुश्चेववादी हुए, फिर गोर्वाचोववादी। अब शायद पुतिनवादी हों।

कम्युनिस्ट पार्टी टूटी तो लेखक संगठन टूट गया। दो कम्युनिस्ट पार्टियां, दो लेखक संगठन। फिर नक्सलवाद का दौर आया तो तीसरा लेखक संगठन भी सामने आ गया।

संगठनवादी लेखकों ने साहित्य को राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई बना दिया। जैसे-जैसे कम्युनिस्ट पार्टियां जनता से कटती और वोटों की राजनीति में उलझती चली गईं, लेखक संगठन भी जन साहित्य से दूर होते चले गए। लेकिन जनवादी लेखकों-कवियों ने अलग से अपनी राह बनाई और भेड़ियों की गुराहट के खिलाफ मशाल जलाने का काम किया।

लेखक संगठन पर अभिजन हावी रहा और अंग्रेजी। डॉ. रामविलास शर्मा ने कई बार कहा कि कम्युनिस्ट पार्टियों का काम-काज देशी भाषा में होना चाहिये, पर औपनिवेशिक मानसिकता वाले कम्युनिस्ट नेताओं ने उनकी एक न सुनी। और तो और, हिंदी का पक्ष लेने के कारण कम्युनिस्ट पार्टी ने महापंडित राहुल सांकृत्यायन को संगठन से निकाल बाहर किया था।

जै

से-जैसे चुनाव नजदीक आते जा रहे हैं, संसदीय राजनेताओं के घुणित कारनामे भी सामने आ रहे हैं। हाल ही में भारत यात्रा पर आये अमरीका के तीन गये-गुजरे रिपब्लिकन सीनेटर अमरीकी लॉबिंग कम्पनी एफ्को वर्ल्डवाइड के कहने पर नरेंद्र मोदी से मिले थे। उन

सीनेटरों को 16-16 हजार डॉलर का तोहफा दिया गया। बदले में उन्होंने मोदी से वादा किया कि वे उसे अमरीकी वीजा दिलाने की भरपूर कोशिश करेंगे। यह कोई अकेली और अपवाद घटना नहीं है। नरेंद्र मोदी ने प्रधानमंत्री बनने के लिये एफ्कोवर्ल्डवाइड को लगभग 12.5 लाख रुपये प्रतिमाह का ठेका दिया है। वास्तव में यह रकम तो मात्र दिखावे के लिये है। ओवरसीज फ्रेंड्स ऑफ बीजेपी समूह के माध्यम से इस कम्पनी को बेहिसाब धन दिया जा रहा है। यह कम्पनी अमरीका और भारत समेत पूरी दुनिया में मोदी की प्रधानमंत्री पद का उम्मीदवार के लिये लॉबिंग करेगी और जाहिर है कि इसके लिए उनके कुकर्मों पर पर्दा डालेगी और उनकी झूठी उपलब्धियों का प्रचार करेगी।

लॉबिंग का सीधा अर्थ है पैसा लेकर किसी के पक्ष में माहौल बनाना और समर्थन जुटाना। अमरीका में इस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। लेकिन भारत में यह धंधा गैरकानूनी है। भाजपा पहले भी इस नाजायज पेशे को कानूनी जामा पहनाने की वकालत कर चुकी है। मोदी को देश का प्रधानमंत्री बनाने का ठेका लेने वाली इस अमरीकी कम्पनी की कारगुजारियों पर जरा एक सरसरी निगाह डालें। दुनियाभर के तानाशाहों के पक्ष में लॉबिंग करना एफ्को कम्पनी का पसंदीदा काम रहा है। इसी से उसको सबसे ज्यादा आमदनी होती है। नाइजीरियाई तानाशाह सनी अवाचा और खुद को कजाकिस्तान का आजीवन राष्ट्रपति घोषित करने वाले नूर सुलतान अविशुली नजरबायेब इस कम्पनी के प्रमुख ग्राहक रहे हैं। यह कम्पनी दुनिया भर में हथियारों के विस्तार और अमरीकी फौजी धौंस की पैरोकार है। इस कम्पनी ने अफगानिस्तान और ईराक पर अमरीका के एकतरफा हमले के पक्ष में प्रचार किया। पूरे पश्चिमी जगत में इस्लाम के खिलाफ आक्रामकता और शय का माहौल तैयार करने में इस कम्पनी ने प्रमुख भूमिका निभायी। दुनिया के विभिन्न देशों में बहुराष्ट्रीय निगमों के पक्ष में कानूनों में फेरबदल करवाने में भी इस कम्पनी को

विशेषज्ञताहासिल है। कहां तक गिनवाएं, इस कम्पनी के काले कारनामों की फेहरिस्त बहुत लंबी है। अमरीकी वीजा हासिल करने के लिये नरेंद्र मोदी जितना हाथ-पांव मार रहे हैं, उतने तो हमारे देश के संतों ने मोक्ष हासिल करने के लिये भी नहीं मारे होंगे। इसके लिये वे एक राजनेता, प्रदेश के एक मुख्यमंत्री और यहां तक कि एक सामान्य भारतीय नागरिक के किरदार को भी काग भगोड़े या बिजुखे में तब्दील कर चुके हैं। अभी तीन महीने भी नहीं गुजरे जब अमरीका के 25 सीनेटरों ने राज्य सचिव हिलेरी क्लिंटन से मोदी को वीजा न देने की अपील की थी। वीजा तो दूर, अमरीका ने मोदी की वीडियो वार्ता तक पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। जब अमरीका में दाल नहीं गली, तो उन्होंने ब्रिटेन के विदेशी मामलों के मंत्री के सामने वीजा देने की गुहार लगायी। लेकिन उन्होंने

भी मुंह फेर लिया। अब उन्होंने “स्पंदित गुजरात सम्मेलन” में आकर्षक शर्तों के साथ अमरीकी कम्पनियों को राज्य में करोड़ों डॉलर के निवेश का न्योता दिया है।

आखिर मोदी अमरीकी वीजा के लिये इतने बेताब क्यों हैं? दरअसल वे अच्छी तरह जानते हैं कि अमरीका ही दुनिया के तानाशाही का काबा-काशी-जरूशालम है। वहां का रहमो-करम हासिल किये बिना किसी तानाशाह की ताजपोशी सम्भव नहीं, चाहे इरान का शाह हो, फिलीपींस का मार्कोस हो, निकारागुआ का पिनोचे हो या क्यूबा का बातिस्ता। लेकिन इसी के साथ-साथ उन्हें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि काम निकलने के बाद अमरीका अपनी कठपुतली के साथ क्या सलूक करता है। अरब जगत के तानाशाहों के ताजा उदाहरण भी सामने हैं। अमरीका के लिये यह कहावत बिलकुल सटीक है कि “काटे चाटे स्वान के दुई भांति विपरीत”।

कुछ साल पहले अटल बिहारी बाजपेयी ने कहा था कि “संसदीय प्रणाली एक स्वांग बन कर रह गयी है।” बहुत जल्दी ही उनके वारिस इतने आगे निकल गए कि उन्होंने अपने लबादे और मुखौटे उतार कर फेंक दिए। अब नाटक नहीं होगा जैसा है वैसा ही दिखेगा। खुला खेल फरूखाबादी। वे कम्पनियों को प्रधानमंत्री पद पाने के लिये ठेके दे रहे हैं। वे दिल्ली की कुर्सी पाने के लिये और शय की तरह अमरीकी पिशाचों से भेंट मुलाकात और शय साधना करने को लालायित

- देश-विदेश

दलित उत्पीड़न का अन्तहीन सिलसिला

-कंवर पाल

दलित उत्पीड़न का पर्याय बन चुका हरियाणा एक ओर शर्मनाक घटना के लिये चर्चा में है। 13 अप्रैल 2013 को कैथल जिले के पबनामा गांव में एक दलित युवक द्वारा उच्च जाति की एक युवती से प्रेम विवाह करने को लेकर उच्च जाति के दबंगों ने हथियारों से लैस होकर पुलिस की मौजूदगी में दलितों की बस्ती पर हमला बोल दिया। गांव के दबंगों का आतंक इतना अधिक है कि पुलिस सुरक्षा के बावजूद पबनामा के 200 से ज्यादा दलित परिवार गांव से पलायन कर चुके हैं। पूरे गांव को पुलिस छावनी में बदल दिया गया है।

पिछले दिनों अन्तर्जातीय विवाह करने वाले युवक-युवतियों पर तरह-तरह से हमले किये गये और जातिगत द्वेष को गहरा करने की तमाम कोशिशें की गयीं। अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने “ऐसे विवाह करने वाले जोड़ों को पुलिस सुरक्षा देने” का आदेश दिया था। मगर वही ढाक के तीन पात। अधिकांश मामलों में पुलिस की मानसिकता भी जातिगत भावनाओं को ही उजागर करती है। इसका ताजा उदाहरण अलीगढ़ में देखने

को मिला। 18 अप्रैल की सुबह नवरात्र की अष्टमी के दिन जहां कन्याओं को पूजने की तैयारी हो रही थी, वहीं एक दलित कन्या दरिदगी का शिकार बनायी गयी। इस घटना का विरोध करने वाले लोगों पर पुलिस ने लाठियां चलायी। यहां तक कि विरोध कर रही महिलाओं, बच्चों और पीड़ित बच्चों के मां-बाप को भी पुलिस ने लाठियों से पीटा। इस घटना में पुलिस का गरीबों के प्रति और खासतौर पर दलितों के प्रति जातिगत घृणा का भाव स्पष्ट होता है। दमन उत्पीड़न का विरोध करने वाली स्त्रियों के साथ सबसे ज्यादा क्रूरता बरती जाती है। बदला लेने और मानमर्दन करने के लिये अक्सर उनके साथ बलात्कार किया जाता है। स्त्रियों के शारीरिक और यौन उत्पीड़न के पीछे स्वर्ण और पुरुष अहंकार के प्रदर्शन की बड़ी भूमिका होती है।

दलितों पर अत्याचारों का सिलसिला सदियों से जारी है। कुछ परिवर्तन जरूर हुए हैं, खासकर आजादी के बाद आरक्षण के चलते दलितों के एक छोटे से हिस्से की आर्थिक स्थिति बेहतर हुई है और उनमें जागृति की लहर आयी है। जगह-जगह पर शोषण उत्पीड़न के खिलाफ प्रतिरोध होना शुरू

अनुसूचित जाति के महज 30 प्रतिशत घरों में बिजली का कनेक्शन है और महज नौ प्रतिशत घरों में साफ-सफाई की व्यवस्था है। आधे से ज्यादा दलित परिवारों के बच्चे आठवीं कक्षा से पहले ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। अनुसूचित जाति के छात्रावासों में रहने वाले बच्चे भी नहीं जानते कि दूध का स्वाद कैसा होता है। अनुसूचित जाति की 40 प्रतिशत आबादी खेतों में मजदूरी करती है और उनमें से लगभग सभी भूमिहीन हैं।

हुआ है, लेकिन जब भी दलितों ने अपने न्यायपूर्ण अधिकारों के लिये आवाज उठायी, उनका बर्बर दमन किया गया। दलितों को जिन्दा जलाये जाने की कई घटनाएं सामने आयीं। गांव के खेत मजदूर दलित जब मजदूरी बढ़ाने की मांग करते हैं, अपने अधिकारों के लिए संगठित होते हैं, यहां तक कि किसी स्वर्ण के घर के आगे से मोटर साईकिल पर सवार होकर गुजरते हैं या बढिया मकान बना लेते हैं तो गांव की दबंग जातियों के लोग आग-बबूला हो जाते हैं। इन छोटी जाति वालों को यह मजाल कि हमारे सामने सर उठाएं और वे दलितों को सबक सिखाने पर उतारू हो जाते हैं। बहाना कुछ भी हो, नतीजा पूरे

‘दक्खिन टोले’ को भुगतना पड़ता है। दलित उत्पीड़न के मामलों में देशभर की स्थिति लगभग एक जैसी है। “प्रोटेक्शन ऑफ सिविल राइट्स एक्ट-1955” की सीमाओं को देखते हुए एक विशेष कानून (अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम 1989) बनाया गया था। इनमें से ज्यादा प्रावधान इतने सख्त हैं कि एक बार गिरफ्तारी होने पर आसानी से जमानत भी नहीं हो पाती। लेकिन विडम्बना यह है कि इस कानून की मूल भावना के अनुरूप कभी इस पर अमल ही नहीं होने दिया गया। यहां तक कि दलित की बेटी और दलितों की बोट ले कर सत्ता तक पहुंचने वाली उत्तर प्रदेश की पूर्व मुख्यमंत्री ने दलितों के ‘हित’ में सबसे पहला काम यही किया कि उत्तर प्रदेश में इन कानून को निस्प्रभावी बनाने का प्रयास किया। अगर अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति आयोग की बर्गीकृत रिपोर्ट 2004-05 को देखें, तो स्पष्ट होता है कि जातिवाद का जहर गांवों में ही नहीं, शहरी इलाकों में भी घुसा हुआ है। आंकड़े बताते हैं कि हर सप्ताह औसतन 11 दलितों की हत्या कर दी जाती है, जबकि 21 दलित महिलाएं बलात्कार का शिकार होती

हैं। अनुसूचित जाति के महज 30 प्रतिशत घरों में बिजली का कनेक्शन है और महज नौ प्रतिशत घरों में साफ-सफाई की व्यवस्था है। आधे से ज्यादा दलित परिवारों के बच्चे आठवीं कक्षा से पहले ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। अनुसूचित जाति के छात्रावासों में रहने वाले बच्चे भी नहीं जानते कि दूध का स्वाद कैसा होता है। अनुसूचित जाति की 40 प्रतिशत आबादी खेतों में मजदूरी करती है और उनमें से लगभग सभी भूमिहीन हैं। मुल्क की 20 करोड़ से अधिक आबादी की स्थिति आज भी दोगम दर्जे की बनी हुई है। दुनिया के सबसे बड़े जनतंत्र के चेहरे पर इससे बड़ी कालिख भला और क्या हो सकती है?

संविधान सभा की आखिरी बैठक में डॉ. अम्बेडकर ने ऐसी ही स्थिति की भविष्यवाणी की थी। उन्होंने कहा था कि “हम लोग अंतर्विरोधी दुनिया में प्रवेश कर रहे हैं। राजनीति में हम एक व्यक्ति-एक वोट को स्वीकार करेंगे, लेकिन हमारे सामाजिक-राजनीतिक जीवन में मौजूदा सामाजिक आर्थिक ढांचे के चलते हम लोग इस सिद्धान्त को हमेशा खारिज करेंगे। कितने दिनों तक हम अंतर्विरोधी का यह जीवन जी सकते हैं? शेष पेज 6 पर